Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, Volume 3 | Issue 2 | (April – June 2026)

समकालीन हिन्दी नवगीत : शहरी जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्ब

डॉ. मदनलाल
सहायक आचार्य,राजकीय महाविद्यालय, शिव। कोटड़ा रोड़, शिव- 344701

शोध सारांश-

नवगीत समकालीन अनुभूतियों का क्रमबद्ध उद्रेक है। यह वर्तमान हिन्दी साहित्य को अपने नूतन कलेवर में अनुभूति एवं लययुक्त होकर स्पंदित कर रहा है। यह अपने जन्म से ही समकालीन होने का गौरव लिए है। नवगीत के नवीन कथ्य में शहरी जीवन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यथार्थ नगरीय जीवन अपने जीवनकाल में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सामना किस भाँति करता है; वह नवगीत का कथ्य है। शहरी जीवन का वातावरण, भाग-दौड़, संघर्ष, उपभोक्तावादी मानसिकता, बाजारवाद, अपसंस्कृति, अलगाव, यांत्रिकता, कुंठा, घुटन, थकन, उलझन एवं अपने अस्तित्व के लिए प्रयास, जीवन को बोझिल बना देते है। नवगीत अपनी यात्रा में इन्हें सहयात्री बनाकर चल रहा है। यह नगरीय जीवन के हर उस हृदय में झाँककर अभिव्यक्त हुआ है, जिसने बिना किसी आनाकानी के इसे भीतर प्रवेश होने दिया; किंचित् हृदय समुद्रों के अनुभूति मोक्तिक लब पुलिन पर आना अभी शेष है, जिसे अतल गहराई में जाकर ही समेटना श्रेयस्कर होगा।

संकेताक्षर- नगरीय जीवन, मध्यमवर्ग, मूल्य, बाजार, सांस्कृतिक प्रदूषण, विसंगतियाँ, विकृतियाँ, संवेदना।

शोध आलेख-

प्रकृति का मूल स्वभाव गेय है। नवगीत समकालीन प्रसंगों का लयात्मक प्रस्फुटन है। गीत की परिवर्तनशीलता केवल उसे नवगीत के द्वार तक ही नहीं ले जाती, वरन आज भी उसकी उँगली पकड़कर परिवर्तन का वह हर कोण दिखा रही है, जहाँ से नवगीत के नव की सार्थकता सिद्ध हो रही है और परिवर्तन के इसी एक कोने में शहर अपने चित्रण को आतुर खड़ा नजर आता है। तब नवगीत कुछ ठहरकर उसके अस्तित्व की पुकार अवश्य सुनेगा। नवगीत शहरी जीवन का वह दर्पण है, जिससे कदाचित् ही कोई क्षेत्र वंचित रहा हो। गीत जब ग्राम्य जीवन से शहर की ओर चलने लगा तब वह नवगीत होने लगा, क्योंकि गीत में जो शहर था वह अलग किस्म का शहर था। नवगीत का शहर महानगरीय परिवेश की विकृतियों का जीता जागता उदाहरण है। यह प्रशंसित संस्कृतियों के मूल्यों का मखौल उड़ाता प्रतीत होता है। क्या कभी शहर मरता भी है? "टी.एस. एलियट लन्दन को मरे हुए लोगों का शहर कहता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद यूरोप में नैतिक मूल्यों की मृत्यु हो गयी थी। इसका वर्णन करते हुए एलियट ने कहा कि लन्दन में टेम्स नदी पर बना पुल मुर्दों की भीड़ से भरा हुआ है। सबेरा होते ही टेम्स नदी के पुल पर भीड़ अपनी रोजी-रोटी के लिए निकल पड़ी है। कुहेसा छाया हुआ है, केवल फर्क इतना ही है कि भीड़ मानव प्रेम से रहित है वह केवल अपने भोग के लिए तत्पर है।"[1]

नगरीय त्रासद परिस्थितियों की प्रस्तुति नवगीत का कथ्य है। ग्राम्य जीवन जब स्वप्न देखता है तब वह शहर की ओर अग्रसर होता है, परंतु उसके सपनों का शहर वर्तमान में समस्याओं का शहर होता जा रहा है, जहाँ पर नैतिक मूल्यों का विघटन, संस्कारों का पतन, भौतिकतावाद का बोलबाला और बाजारीकरण मनुष्य की चेतना को लील चुके हैं। शहरी जीवन पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण प्रतीत होता है। शहर का प्रदूषित पर्यावरण संस्कृतियों के प्रदूषण तक की यात्रा कर चुका है। श्रीकृष्ण शर्मा के शब्दों में- "आज नवगीत के केंद्र में शोषित, वंचित और उपेक्षित आम आदमी

है। उसके दुख-दर्द, गरीबी, अभाव, बेरोजगारी, महंगाई, अशिक्षा, घर, टूटते परिवार, छीजते आत्मीय रिश्ते, सपने, खंडित आस्था और विश्वास. अकेलापन और असुरक्षा है। छद्म लोकतंत्र, सत्ता-लोलुप सुविधाभोगी नेतृत्व, सिद्धांतहीन अवसरवादी राजनीति, राजनीति का अपराधीकरण, यांत्रिक सभ्यता, ग्रामीण व महानगरीय जीवन, भीड़ में पहचान खोते आदमी की त्रासदी, नैतिक व मानवीय मूल्यों का क्षरण, वैश्वीकरण, उदारीकरण, बाजारवाद, उपभोक्ता संस्कृति, वस्तु में तब्दील होता आदमी, उत्तर आधुनिकता, लोक संस्कृति, लोकजीवन, उत्सवप्रियता, हास- उल्लास, प्रकृति-प्रेम, सामाजिक विसंगतियाँ, अपसंस्कृति और सांस्कृतिक प्रदूषण, दलित और नारी-विमर्श आदि-आदि पारंपरिक और आधुनिक दोनों प्रकार की विषय-वस्तु, युगबोध, सौंदर्यबोध, जीवन-दृष्टि, जातीय अस्मिता, मानवी आस्थाओं, विश्वासों और सरोकारों से संबंधित सोच, संघर्ष की भावना और पूर्ण जिजीविषा के साथ नवगीत में उपस्थित हैं।"[2] नवगीत के उपर्युक्त कथ्य नवगीत को समृद्ध करने में अवश्य सक्षम रहे; परंतु वह मानवीय मूल्यों की खोज में आज भी प्रयासरत है।

गीत और नवगीत के शहर में भी काफी अंतर दृष्टिगोचर होता है। जहाँ गीत का शहर बालम के कमाने जाने पर प्रियतमा की याद कर पता था, वहीं नवगीत का शहर उसकी आशंकाओं का अंबार है। गीत का शहर जहाँ माता-पिता के लिए सफल होकर पुत्र के लौटने की आकांक्षाओं का सेतु था, वहीं नवगीत का शहर गाँव की ओर मुड़कर न देखने का अहंकार है। गीत का शहर गाँव के अधूरेपन को अनुभव करता था, जबकि नवगीत का शहर गाँव के अधूरेपन को उजागर कर उस पर व्यंग के बाण चला रहा है। शहरी जीवन टूटन, घुटन, निराशा, संत्रास और विसंगति में उलझ कर रह जाता है। शहर में अधूरेपन का एहसास व्यक्ति को एकाकी बना देता है। आधुनिक नवगीतकारों ने महानगर की विसंगतियों का अंगोपांग चित्रण किया है। शहरी जीवन के बिम्ब कवि कुंअर बेचैन के शब्दों में इस प्रकार स्वरसिक्त हुए है-

“आफिस, बॉस, क्लर्क, चपरासी

गुट, गुटबंदी, तर्क, दुधारे

गप्पें, चाय, रिश्वतें, लड़की

मैच, कमेंट्री, फिल्म सितारे

लंबी प्यास, मुखौटे चेहरे

सूखी हँसी, ढोंग-मुस्कानें

हिलते हाथ, थके संबोधन

अजनबियत, भूली पहिचाने

जलती आँख, सुलगते सपने

हाथ तापते हुए आदमी।”[3]

रामकिशोर दहिया जब महानगर में आजीविका के लिए संघर्षरत लड़की के एकाकीपन को गाते है, तब अधोलिखित अमिट चित्र नयनांबुओं से धुलने के बावजूद भी पीड़ा उगाते रहते है। वर्तमान में माँ की चिट्ठी का स्थान मोबाइल ने

अवश्य ले लिया है, पर उसकी स्नेह और चिंताओं का गाल से होकर बहना आज भी निरंतर है-

"मुँह पे छींटे और पीठ पर आंखें - सहती है

महानगर में एक अकेली लड़की रहती है,

ज्यों-ज्यों बढ़ती भीड़, अकेलापन भी बढ़ता है

नजरों का भूखा नाग, पांव से ऊपर चढ़ता है

घर की यादें मां की चिट्ठी गाल से होकर बहती है![4]

वर्जनाएँ एक स्त्री को भीरु बना देती है; परंतु उदराग्नि आदेशित करती है कि वह अपने परिवार की विषम परिस्थितियों को समेटने का प्रयास करें। इसी ऊहापोह में शहर की मजदूरी की मजबूरी कवयित्री शान्ति सुमन की ललमनिया को अपने मोहपाश में जकड़ती ले जाती है, जो स्त्री विमर्श को आमंत्रित करती है-

"इसी शहर में / ललमनिया भी रहती है बाबू

पेट की खातिर / रोज कोयला चुनती है बाबू

पेट नहीं भर सका / रोज की रोज दिहाड़ी से

रोज सोचती कूद / पड़े जा ऊंच पहाड़ी से

लोग कहेंगे क्या / यह भी तो गुनती है बाबू?"[5]

सतरंगी सपने व्यक्ति को कुछ करते रहने के लिए विवश कर देते हैं। जब बात प्रिय की नथुनी की हो तो मंगरू के पास आखिरी उपाय जो बचता है, वह कलकत्ता है; परंतु कलकत्ते का वातावरण हर किसी के लिए अनुकूल भी नहीं हो सकता है और व्यक्ति अपनी आँखों के सामने अपने सपने धराशायी होते देखता है-

"अबकी आना नथुनी लाना

कलकत्ते में आकर मंगरू

जोड़ रहे हैं दो-दो आना

सतरंगी आँखों के सपने

बाहर आकर धूल हो गये।"[6]

मधुकर गौड़ के नवगीत की रोशनी जब दिन दहाड़े अपहृत की जाती है तब तम का प्रभाव चुनौती देता है। लोगों की चुप्पी शहर पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। यहाँ नवगीत की कला बिम्ब और प्रतीक समाज की विकृतियों को उजागर ही नहीं करते है, वरन भीतर तक झकझोर देते है-

"दिन दहाड़े रोशनी का अपहरण

लोग है खामोश

यह कैसा शहर है।"[7]

भारतीय महानगरों की अपनी अलग ही कहानी है। नवगीतकार ने दिल्ली के बहाने उन अनैतिक कार्यों को उकेरने का प्रयास किया है जो सत्ता के कोठे पर स्वयं को बिकने के लिए तैयार करती है। मगर भीतर से ढहना उसकी इच्छा नहीं विवशता है। दिल्ली को वेश्या बनाकर नवगीतकार जय चक्रवर्ती देश की राजधानी का मानवीकरण इस तरह से करते है कि एक विवश नारी की वेदना का ज्वार-सा आ जाता है-

"ये दिल्ली है / दिल्ली-दुखिया क्या-क्या सकती है!

नित्य सुबह से शाम / बैठ सत्ता के / कोठे पर

पल-पल रहती दिल्ली / खुद ही / बिकने को तत्पर

रोज सँवरती / बाहर से / भीतर से ढहती है।"[8]

नवगीतकार वर्तमान कुत्सित होती राजनीतिक विडंबनाओं का आलेखन बड़ी तबीयत से करते हैं। लोकतंत्र में चुना हुआ जनप्रतिनिधि अगर राजतंत्र का आकांक्षी होने लगता है, तब नवगीत का व्यंग्यपरक आक्रोश धीरे-धीरे अपने स्वरूप में आने लगता है। नवगीतकार सत्यनारायण का युगबोध नवगीत को नूतन स्वर दे रहा है। मुहावरेदार अभिव्यक्ति सम्प्रेषणीयता को इस तरह परिष्कृत करती है-

"खबरदार / राजा नंगा है / मत कहना

राजा दिन को रात कहे / तो रात कहो तुम

राजा को जो भाए / वैसी बात कहो तुम

जैसे राखे राजा / वैसे ही रहना

राजा जो बोले समझो / कानून वही है

राजा उल्टी चाल चले / तो वही सही है

इस उल्टी गंगा में / तुम उल्टा बहना।"[9]

शहर का संवेदनहीन व्यवहार अविश्वास और घृणा को जन्म देता है। शहरी जीवन की यांत्रिकता कष्टकारक होती है। मनुष्य मात्र कलपुर्जा बनकर रह गया है। मुखौटे पहने मुखों की पहचान करना टेढ़ी खीर हैं। शहर मध्यम वर्ग की परीक्षा लेता हुआ प्रतीत होता है। उपभोक्तावादी संस्कृति समस्त जीवन को बोझिल बना दे रही है। मानवीय मूल्य बाजार मूल्यों के आगे जैसे पानी भर रहे हैं। मनुष्य की बदलती जीवन शैली और उपभोक्तावादी प्रवृत्ति ने संवेदनाओं का शून्य पैदा कर दिया है। नगर का यथार्थपरक परिवेश विसंगतियों को उजागर करता है। रिश्तों की मर्यादा तार-तार होती जा रही है। झूठ का व्यापार धड़ल्ले से फैलता जा रहा है। पूँजीवादी अर्थतंत्र आम आदमी के लिए दो रोटी का जुगाड़ करने में भी सफल नहीं रहा। सिक्कों की खनक से आकर्षित आम आदमी नगर के चंगुल में इस तरह जकड़ा है कि न निगलते बनता है न उगलते, रमेशचंद्र पंत इसे इस प्रकार गाते है-

"छोड़कर घर-गाँव आए / इस नगर में

खनक सिक्कों की हमें / है खींच लाई

और कुछ देता नहीं / है अब दिखाई

लग रहा अपना न कोई / इस नगर में

डोर रिश्तों की बचा / पाए कहाँ है

बस बिखरते ही गए / हर क्षण यहाँ हैं

जी रहे हैं सब अकेले / इस नगर में।”[10]

लोगों पर दिखावे की हावी होती प्रवृत्ति ने जीवन मूल्यों को दरकिनार कर स्वार्थीपन की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। नवगीत ने यहीं से अपना कथ्य लेकर जनता तक संप्रेषित होने का बीड़ा उठाया; परिणामस्वरूप आज वह जन मानस के हृदय-वीणा का स्पंदित तार हो चुका है। महेश अनघ का नवगीत गिरगिट की भाँति रंग बदलने वाले लोगों के गाल पर करारा तमाचा है-

“अब डकार ले ली तो पूँजीवादी हैं

दावत से पहले हम भी जनवादी थे।

अब कर्फ्यू लगने पर गाँधीवादी है

दंगे से पहले हम भी उन्मादी थे।”[11]

इक्कीसवीं सदी का नवगीत साम्प्रदायिक दंगों के परिदृश्य में नत्थू और यामीन के पेट की आग को आरेखित करता है, जो शहर की आग उत्पन्न होने के बावजूद भी उससे भयावह है। जाति धर्म की आड़ में अपना स्वार्थ साधते कट्टर उन्मादी कुण्ठाग्रस्त लोग सामान्य जन के हिस्से में पीड़ा के अतिरिक्त कुछ नहीं दे सकते हैं, एक कारुणिक दृश्य उपस्थित है-

"आज / भूखे पेट ही / सोना पड़ेगा

शहर में दंगा हुआ है

एक नत्थू / दूसरा यामीन है

आँख दोनों की / मगर ग़मगीन है

बिन मजूरी / दर्द को ढ़ोना पड़ेगा

शहर में दंगा हुआ है।”[12]

राजनीतिक एवं आर्थिक जगत की नैतिकता के पतन ने शहर के वातावरण को और भी भयावह कर दिया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत के सपनों का गला घोंटती वर्तमान राजनीति एवं अर्थतंत्र केवल अवसरवादी निष्ठाओं का विनिमय बनकर रह गया है। उपर्युक्त परिस्थितियाँ एक सजग नवगीतकार की पैनी दृष्टि से बच नहीं सकी-

"बंदरबाँट लगी नगरी में / कहीं रेवड़ी बाँटें अन्धे

कहीं मदारी दिखा रहे हैं / अपने-अपने गोरखधंधे

अवसरवादी निष्ठाओं का / आपस में कैसा विनिमय है

यह कैसा जीवंत समय है।"[13]

नगरीय प्रदूषण की विकरालता का यथार्थ चित्रण व्यवस्था का कच्चा चिट्ठा खोलता-सा प्रतीत होता है। अनियंत्रित जनसंख्या वृद्धि एवं असंयमित जीवन शैली ने प्रकृति एवं पर्यावरण का दोहन किया है। शहर के पर्यावरण प्रदूषण से भी भयावह स्थिति में सांस्कृतिक प्रदूषण अपनी जड़ें जमा रहा है। इतिहास गवाह है कि सदैव ही प्रदूषित संस्कृतियों ने सभ्यताओं को कलंकित ही किया हैं। नवगीत उपर्युक्त चित्रों को उभारकर नागरिकों को संदेश देना चाहता है कि इन भयावह स्थित को हम ही सुधार सकते है। शासन तंत्र की स्मार्ट शहर बनाने की घोषणाओं के बीच आज का नवगीतकार संपूर्ण शहर को किस प्रकार शब्दबद्ध करता है, दृष्टव्य है-

"यह शहर, मेरा शहर / है स्मार्ट कितना

पा रहा है जो प्रदूषण में प्रथम पद

उत्सवों की / छोड़िये स्वच्छंदता को

स्वच्छता के पतन में भी हम प्रथम हैं

ढेर कूड़े के / सड़क पर हम सजाकर

गर्व से कहते सनातन सभ्य हम हैं

साँस लेने के लिए / जो मिल रही है

वह विषैली हवा पाकर हुए गद्गगद.

सुबह भी मिलती / जहाँ पर हो सिसकती

और दूषित जल जहाँ हो स्रोत पर ही

नागरिक भी / नियमों को ठेंगा दिखाते

उस शहर का सोच कितना हुआ सतही

गंदगी से / बजबजाते हुए नाले

फेंकते बदबू निरंतर छोड़ते मद।"[14]

व्यवस्था को बाजीगर बनाने में हम जमूरों का योगदान सर्वाधिक हैं। हम स्वयं ही लोकतंत्र के नाम पर बिल्लियों को दूध की रखवाली का ठेका देकर घोड़े बेचकर सो जाते हैं और जब उनकी करतूतों का मालूम होता हैं तब तक एक घूँट भी दूध नहीं बचता है। व्यवस्था से प्रश्न करना पैरों पर कुल्हाड़ी चलाना है। नवगीत केवल समस्याओं का चित्रण

नहीं करता, वरन इस व्यवस्था के

विरुद्ध अपने स्वाभिमान को जिन्दा रखते हुए षड्यंत्र को उजागर भी करता है तथा इसके खिलाफ लड़ने का आह्वान भी करता है। सामान्य व्यक्ति की निरंतर की गयी उपेक्षा आक्रोश को जन्म देती है, जो अनेक क्रान्तियों का कारण रहा है। जगदीश व्योम का आक्रोश स्वाभिमानी जीवन के लिए व्यवस्था को चुनौती देता है-

"बाजीगर बन गई व्यवस्था

हम सब हुए जमूरे / सपने कैसे होंगे पूरे

मिला भेड़ियों को / भेड़ों की अधिरक्षा का ठेका

जिन सफेदपोशों को मैंने / देश निगलते देखा

स्वाभिमान को बेच, उन्हें / मैं कब तक नमन करूं रे।"[15]

नवगीतकार नारायण लाल परमार ने इमारत को सामंती प्रवृत्ति का प्रतीक माना है। अमीर और गरीब वर्ग की दूरियाँ बढ़ती जाती है। शोषक और शोषित वर्ग के बीच का भेद केवल धन का नहीं है, अपितु मन का भी है। जो अन्न उत्पन्न करता है वह दो जून खा नहीं सकता है, जो इमारतें खड़ी करता है, उसके पास दुपहरी में सुलगते सूर्य से बचने का यत्न नहीं है।

"झूठ का कुटुम्ब सुखी / है मेरे शहर में

इमारतें लहू पीती / हैं मेरे शहर में।"[16]

इसके इतर नवगीत में संगतियों एवं सौन्दर्य के चित्र हृदय एवं नयनों को कुछ क्षण हेतु आनंदित अवश्य करते हैं, परंतु वास्तविकता से मुँह मोड़कर हम समकालीन नहीं हो सकते है। नवगीत के यथार्थ चित्र उसे कालजयी बनाने में एक प्रेरक का कार्य करते हैं।

संक्षेप में इस यथार्थ नगरीय जीवन की उष्णता को नवगीत की लयात्मक थपकियाँ ही किंचित् शीतलता देती हैं, अन्यथा संवेदनाओं की रिक्ति सभ्यताओं पर प्रश्नचिह्न है। नवगीत का एक स्वर जहाँ व्यवस्था को दर्पण दिखाता प्रतीत होता है, तो दूसरा स्वर उन मूल्यों के बगीचे को पानी दे रहा है; एक अन्य स्वर पुरातन एवं अधुनातन की स्थितियों का आंकलन कर पथिक का पथ प्रशस्त करता है। यह शहरी यथार्थ की विभिन्न समस्याओं के समक्ष आम आदमी को खड़ा करने का हौसला भी रखता है। अस्तित्व के संकट से गुजरता सामान्य जन नवगीत में अपनी पहचान के आलोक बिन्दु खोजने के प्रयास में परिणाम के अत्यधिक निकट पहुँच पा रहा है, जो नवगीत और नवगीतकारों की सिद्धियों का द्योतक है। यद्यपि नवगीत ने नगर की विसंगतियों और विद्रूपताओं को हमारे समक्ष उपस्थित किया है, तथापि इसके समाधान के लिए भी यह गीत हमारा पथ प्रशस्त करने में सहयोगी बना है। गीत सहृदय को भावजगत की यात्रा के लिए तैयार करते है, नवगीत ने इन्हीं भावों को यथार्थ के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया, खड़ा ही नहीं किया, वरन उन संवेदनाओं को हर हृदय तक संप्रेषित कर कुछ समाधान ढूंढने का प्रयत्न भी किया। संवेदनाओं का विस्तार ही साहित्य का उद्देश्य है, नवगीत इसी उद्देश्यपूर्ति हेतु स्वयं को कसौटी पर कस रहा है, वह कुंदन होना चाहता है, वह मानसरोवर होना चाहता है जहाँ से सृष्टि अपना प्रतिबिंब देख सकें, प्रत्येक हृदय अपनी बात कर सकें, हंस अपने नीर-क्षीर विवेक का अनुप्रयोग सजगता के साथ कर सकें।

संदर्भः-

1. अहमद अली, आलमगीर (2016), नवगीत समीक्षा की नूतन दृष्टि, दिल्ली, नमन प्रकाशन, पृ. स. 19-21
2. अष्ठाना, मधुकर, (2018), नवगीत के विविध आयाम, लखनऊ, लोकोदय प्रकाशन, पृ. स. 65
3. डॉ. दीक्षित, मधु, (2019), हिन्दी नवगीत में बिम्ब और प्रतीक, जयपुर, बोधि प्रकाशन, पृ. स. 125-126
4. बंधु, राधेश्याम, (2019), नवगीत के नये प्रतिमान, दिल्ली, कोणार्क प्रकाशन, पृ. स. 231
5. बंधु, राधेश्याम, (2019), नवगीत के नये प्रतिमान, दिल्ली, कोणार्क प्रकाशन, पृ. स. 305
6. उपाध्याय, सुधांशु, (2017), नवगीत का दस्तावेज, सं. डा. इंदीवर, वाराणसी, विजय प्रकाशन मंदिर पृ. स. 236
7. शुक्ल, निर्मल, (2006), शब्दपदी, लखनऊ, उत्तरायण प्रकाशन, पृ. स. 74
8. सिंह, ओमप्रकाश, (2016), नयी सदी के नवगीत भाग-तीन, दिल्ली, नमन प्रकाशन, पृ. स.173
9. शुक्ल, निर्मल, (2006), शब्दपदी, लखनऊ, उत्तरायण प्रकाशन, पृ. स. 162
10. सिंह, ओमप्रकाश, (2016), नयी सदी के नवगीत भाग-तीन, दिल्ली, नमन प्रकाशन, पृ. स.131
11. शर्मा, रामस्नेही लाल, (2020), नवगीत कोश, आगरा, निखिल पब्लिशर्स, पृ. स. 97
12. पंकज, जगदीश, (2015), सुनो मुझे भी, गाजियाबाद, निहितार्थ प्रकाशन पृ. स. 76
13. पंकज, जगदीश, (2019), मूक संवाद के स्वर, दिल्ली, ए. आर. पब्लिशिंग कम्पनी, पृ. स. 29
14. पंकज, जगदीश, (2021), प्यास की पगडंडियों पर, दिल्ली, ए. आर. पब्लिशिंग कम्पनी, पृ. स. 27
15. सिंह, ओमप्रकाश, (2016), नयी सदी के नवगीत भाग-तीन, दिल्ली, नमन प्रकाशन, पृ. स. 203
16. डॉ. दीक्षित, मधु, (2019), हिन्दी नवगीत में बिम्ब और प्रतीक, जयपुर, बोधि प्रकाशन, पृ. स. 188